

चौथा हादसा

स्वयं प्रकाश

चैथा हादसा



स्वयं प्रकाश

कथाकार का वक्तव्य

अज्ञान की ट्रैजिक इतिहा

कहानी 'चैथा हादसा' जो सवाल उठाती है उनमें सबसे मजेदार सवाल यह है कि आखिर वो क्या चीज है जिसके आधार पर हम सही-गलत, दोस्त-दुश्मन, अपने-पराये, अच्छे-बुरे का निर्णय करते हैं। क्या सिर्फ एपीयरंस?... मात्र वह जो दूर से एक नज़र में दिखाई दे रहा है? क्या सिर्फ सुनी-सुनायी बातें?

कहानी कहती है 'हाँ'। कहानी में नायक या वर्णनकर्ता को मात्र उसकी दाढ़ी के आधार पर मुसलमान मान लिया जाता है। कहानी के आरम्भ में कुछ हल्के आधार और हैं मसलन नायक का उर्दू लहज़ा, उसका मीट खाना या गालिब-मीर की गजलें गुनगुनाना..... लेकिन शीघ्र ये आधार पीछे छूट जाते हैं और उसकी मुस्लिम पहचान का एकमात्र आधार उसकी दाढ़ी रह जाती है। क्या यह हास्यास्पद नहीं? क्या यह पूरी स्थिति हमारी सार्वजनिक सोच पर एक विकट व्यंग्य नहीं? यह कौन सिखाता है कि मुसलमान है तो दाढ़ी जरूर रखेगा, इसाई है तो हैट पहनेगा और ब्राह्मण है तो त्रिपुण्ड लगाएगा।

लेकिन इस कॉमेडी की ट्रैजडी यह है कि हमारे समाज की वास्तविक स्थिति यही है। अधिकांश दंगे अफवाहों के आधार पर फूटते और फैलते हैं। और हमारी जनता सर्वथा निष्प्रतिरोध, प्रश्नातीत भाव से तुरन्त अफवाहों पर विश्वास कर लेती है। यह न सिर्फ हमारे सामाजिक जीवन की असुरक्षा अपितु एक कुशल, कारगर और प्रभावी प्रशासन तंत्र की अनुपस्थिति की ओर भी संकेत करता है। कभी-कभी लगता है अंग्रेजों से विरासत में मिला तंत्र अनुचित को होने से रोकने में अधिक रुचि नहीं रखता, उसकी दिलचस्पी अनुचित होने देने और बाद में दोषी को दण्डित करने में अधिक रहती है।

कुल मिलाकर यह कहानी साम्प्रदायिकता के एक ऐसे बीज को उजागर करती है जिसे आज तक किसी कहानी ने नहीं किया- परस्पर अज्ञान। नहीं जानने से किस तरह मनुष्य निहित स्वार्थी द्वारा फैलाए जा रहे झूठ का

शिकार-- बल्कि समर्थ और प्रचारक बन जाता है- यह समझने की बात है। पूरी कहानी हमारे हास्यास्पद अज्ञान की अविकल प्रदर्शनी है। शहर के लोग दिनकर की 'उर्वशी' को नयी कविता की किताब समझते हैं। कहो कि राहुल सांकृत्यायन की बहुत पहले मृत्यु हो गयी, तो विश्वास नहीं करते। पानी पिलाने वाली बुढ़िया नहीं जानती कि कोई मुसलमान खुद को हिन्दू बताकर उसे धोखा भी दे सकता है। मुहल्ले की लड़कियाँ नहीं जानती कि नायक हिन्दू है। नायक नहीं जानता कि वाज कैसी होती है, रमजान मियाँ बगैर नायक के बारे में कुछ पता किये उससे अपनी बेटी के रिश्ते की बात चलाने चल पडते हैं, बस में एक आदमी बता रहा है कि सीमा पर मुसलमान क्या करते हैं, वह नहीं जानता कि नायक जैसलमैर से ही आ रहा है, नायक और उसका पड़ोसी जालौर और जालौर के मुसलमानों के बारे में बातें कर रहे हैं, जबकि दोनों जालौर या जालौर के मुसलमानों के बारे में कुछ नहीं जानते। नायक कहता है उसका चूड़ियों का बिजनेस है। पड़ोसी बगैर शंका संदेह इसे मान लेता है।

अज्ञान की हास्यास्पदता की ट्रैजिक इतिहा तब होती है जब नायक सोचता है 'कहूँ कि हिन्दू हूँ तो? पतलून खोल दूँ तो भी कोई नहीं मानेगा?' सचमुच जीवन में ऐसा ही होता है। झूठ सुनते-सुनते हम उसके इतने अभ्यस्त हो जाते हैं, वह हमें इतना अच्छा लगने लगता है कि हम सच को भी स्वीकार नहीं करना चाहते। सच को नये सिरे से स्वीकार करने के लिए थोड़ा बौद्धिक आलस्य त्यागना पड़ता है।

और कमाल देखिए कि हमारे दौर के सबसे जागरूक और जिम्मेदार नागरिक-रचनाकार-भी वास्तविकता को न केवल नहीं जानते, बल्कि उसे हँसी-मजाक की चीज समझ रहे हैं। बुद्धिजीवियों की गगनविहारिता का एक नमूना यह है कि वे न जात-पाँत को मानते हैं (न जानते हैं) और उनकी नजर में मनुष्य-मनुष्य में कोई अन्तर नहीं है- हबीब को चाहे हबीब कहो चाहे स्वयंप्रकाशुरहमान। लेकिन इसके पीछे छिपी कला डालने वाली हकीकत यह है कि मानवतावादी हबीब के एलिऐनेशन को नन्दू और पारस कभी समझ ही नहीं सकते। हबीब और उसके नाते-रिश्तेदारों को पार्टीशन की और पाकिस्तान न जाने की सजा लगातार मिल रही है, उनके बाकायदा अलग मौहल्ले अलग 'घेट्टो' बन रहे हैं, वे जानते हैं वे इस देश को अपना या अपने बात का कभी नहीं कह सकते। हबीब

जानता है, लाख होशियार सही, उसका बच्चा नंदू और पारस के बच्चों से पीछे रह जाएगा, वह जानता है कि नन्दू या पारस उसकी पीड़ा को कभी नहीं समझ पायेंगे न रामबक्षा हाँ, स्वयं प्रकाश समझे तो शायद समझ जाये।

लेकिन हिन्दुस्तान सिर्फ तुम्हारे बाप का नहीं, हमारे बाप का भी है, यह भी हबीब सिर्फ जोधपुर के मिनर्वा होटल में दोस्तों के बीच कह सकता है, वह भी हँसी-मजाक की नकाब में। वह या उसके मजहब वाले यही बात सड़क पर या संसद में हर्गिज नहीं कह सकते। नहीं कहते।

यही है चैथा हादसा।

चैथा हादसा

मेरा तबादला जैसलमेर हो गया था और वहां की फिज़ा में ऐसा धीरज, इतनी उदासी, ऐसा इत्मीनान, इस कदर अनमनापन, ऐसा 'नेचा' है कि सोचा अजीब माहौल है यार, चलो ऐसा कुछ करें जैसा और जगह नहीं कर सकते। मसलन किसी दिन लुंगी पहनकर दफ्तर चले जायें, या गले में ढेर सारी मालाएँ पहन लें और लोगों के हाथ देखने लगे या दिनदहाड़े छत पर खड़े होकर नंगे नहाएँ! एक अपेक्षाकृत बड़ी जगह से इस छोटी जगह आया था इसलिए ज़रा ज्यादा ही मस्ती लग रही थी। और यह मस्ती वहाँ की हर चीज़ में थी। लोग आराम से उठते, चाय पीने से पहले आधा घंटा खाली बैठते, अखबार दो घंटे में पढ़ते, दफ्तर के लिए तैयार होने में एक घंटा लगाते, रास्ते में कोई मिल जाता तो हाथ मिलाने के दो-दिन मिनट बाद बात शुरू करते-कहिए क्या हाल है? और आप पहले पूछे लें कि क्या हाल है तो डेढ़ मिनट रुककर, जैसे काफी सोचकर जवाब देते कि बस ठीक-ठाक है! किसी को कहीं जाने की जल्दी नहीं थी। दिन था, जो घटनाविहीन-सा था, रातें थीं, जिनमें कोई लम्बे-चैड़े सपने नहीं थे, रिश्तेदारियाँ थीं, जो बहुत सीमित थीं। पैंसठ की लड़ाई और फैमीन के किस्से थे जो बीसियों बार सुन-सुनाये जा चुके थे। बच्चे थे, जो अपने आप आहिस्ता-आहिस्ता बड़े हो रहे थे। और एक सूनी-सपाट-निष्प्रयोजन-अलस जिन्दगी थी जो धीरे-धीरे रेंग रही थी।

मैं यह सर्वग्रासी शैथिल्य देखकर दंग रह गया। हे भगवान! मैंने सोचा। हिन्दुस्तान कहाँ का कहाँ भाग रहा है, जमाना इतनी तेजी से बदल रहा है कि किसी शहर में दो सवाल बाद जाओ तो वह पहचान में नहीं आता, खुद अपने ही शहर में अपनी गली, अपना मकान ढूँढना पड़ता है, अपना बचपन किताबों में पढ़ी चीज़-सा लगता है, अपने लड़कपन की पवित्र गुदगुदी मोहब्बत बचकाना और वाहियात लगती है, अपने छोटे भाई बॉस लगते हैं और पिताजी के दोस्त पुरानी डॉक्यूमेन्ट्री फिल्मों के पात्र, अपने लिए जिन आदर्शों-मूल्यों का वरण किया था, झूठे लगते हैं, जिन कविताओं को गा-गाकर झूमते या रो पड़ते थे, हास्यास्पद लगती हैं.... और यहाँ? यहाँ तो लगता है अट्टारह सौ सत्तावन का गदर पिछले ही साल हुआ था!